ॐ श्री परमात्मने नमः

पंचदश अध्याय

बारहवें अध्याय में भक्ति की बात पूर्ण करने के बाद तेरहवें अध्याय में भगवान ने नया सूत्र पकड़ा था- क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ तथा प्रकृति और पुरुष का। इनके विवेचन से ऐसा आभास हुअ कि सम्पूर्ण दृश्यमान जगत एक ही प्रकृति से बना है तथा सम्पूर्ण जगत को चेतनता प्रदान करने वाला पुरुष भी एक ही है जो सबमें स्थित होकर कार्य कर रहा है। ऐसे में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि जब सभी वस्तुएं और प्राणी एक ही प्रकृति से बने हैं और चेतना प्रदान करने वाला पुरुष भी एक ही है तब उनमें भिन्नता क्यों? इसका विवेचन विस्तार पूर्वक भगवान ने चौदहवें अध्याय में किया। उन्होंने बताया कि प्रकृति समरस नहीं है। यह तीन गुणों से बनी है जिनके विभिन्न-विभिन्न लक्षण हैं। इन गुणों की मात्रा विभिन्न प्राणी में, विभिन्न स्थितियों में, विभिन्न काल में घटती बढ़ती रहती है अतः हमारे मूड, हमारे विचार, हमारी कार्यशैली बदलती रहती है जिनके भिन्न-भिन्न प्रभावों के कारण यह विविधतामय संसार नजर आता है।

भगवान ने अर्जुन को गुणातीत होने की प्रेरणा दी है। इसके उपाय बताए। इनमें प्रथम तो विवेक-विचार द्वारा तीनों गुणों को पहचान कर द्रष्टा भाव लाना है। किन्तु यह ज्ञान पुरुषार्थ प्रधान है। अकेला पुरुषार्थ हर वक्त सफल नहीं होता। भगवान तो शत-प्रतिशत व्यवहारिक बातें करते हैं अतः उन्होंने बताया कि ज्ञान-पुरुषार्थ के साथ अनन्य भक्ति की मिठास और सेवा की सुगन्ध मिलाओ तब बनेगी बात। हम सेवक हों, परमात्मा सेव्य तथा प्रकृति की समस्त वस्तुएं सेव्य पदार्थ, तब जाकर सेवा होगी।

इस सेव्य पदार्थ, सेवक और स्वामी के तत्व पर भी विचार करें तो समझेंगे कि तत्वतः तीनों एक ही हैं। तीनों में वही पुरुष है किन्तु पुरुष यानी परमात्मा की अभिव्यक्ति अलग-अलग है। वही बगीचा है, वही माली है, वही

कलियां तोड़ने वाला है लेकिन कलियों में वह अलग तरह से अभिव्यक्त होता है, माली में वह अलग तरह से अभिव्यक्त होता है और साथ ही इन दोनों पर अपना प्रभुत्व भी बनाए रखता है।

इन तीन भूमिकाओं के कारण पुरुष के तीन विभाग किए गए- क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम। ध्यान में रहे कि इस विभाजन में पुरुष बंटता नहीं। ये तो उसकी अभिव्यक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हैं। पानी की बाल्टी में दिखाई देने लगता है तो आकाश का चन्द्रमा बंट नहीं जाता। बाल्टी का चन्द्रमा उसी चन्द्रमा का ही रूप है जो पानी पर आरोपित होने के कारण भिन्न जान पड़ता है। क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष पुरुषोत्तम के ही प्रतिबिम्ब के समान है जो कि जड़ पदार्थ और चेतन प्राणी पर आरोपित हो रहे हैं।

जैसे एक स्त्री को पुत्र के संदर्भ में कहा जाए तो मां होती है, पति के संदर्भ में उसका परिचय दें तो वह पत्नी होती है किन्तु इन दोनों के परे वह वास्तव में नारी है। इसी प्रकार जड़ प्रकृति के संदर्भ में परमात्मा का परिचय क्षर पुरुष है, चेतन प्रणियों के संदर्भ में उसका परिचय अक्षर पुरुष है किन्तु वास्तव में वह इन दोनों से परे है जिसके लिए भगवान इस अध्याय में पुरुषोत्तम शब्द का व्यवहार करते हैं। इस अध्याय का नाम भी पुरुषोत्तम योग है क्योंकि परमात्मा की इन विभिन्न भूमिकाओं का ज्ञान तथा दृश्यमान जगत से परे भी उसकी सत्ता का ज्ञान ही परम ज्ञान है। इस परम ज्ञान से उस पुरुषोत्तम के प्रति भक्ति भी सहज रूप से आ जाएगी और सबमें उसकी अभिव्यक्ति दिखाई देने से जन सेवा बहुत सहजता से जनार्दन सेवा जान पड़ने लगेगी इस प्रकार ज्ञान, भक्ति और कर्म का पावन संगम हमारे कलुष को धो डालेगा और हम भगवान के मंदिर में प्रवेश पाने के योग्य हो जाएंगे।

श्री भगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।।१।।

श्री भगवान कहते हैं-ऊपर की ओर मूल वाले और नीचे की ओर शाखा वाले संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष को अव्यय कहा जाता है। छंद अर्थात्

वेद इसके पत्ते हैं, इसे जो तत्व से जानता है वही वेदों को जानने वाला है।

पन्द्रहवें अध्याय में भगवान इस संसार के भिन्न-भिन्न जड़ चेतन वस्तुओं, प्राणियों के संदर्भ में अपनी भूमिका बताने जा रहे हैं। वे बात वहीं से आरंभ करते हैं जहां हम इस क्षण हैं। अभी, इस क्षण, हमें परमात्मा नहीं दिखाई पड़ता हमें तो चारों ओर फैला विविधतापूर्ण संसार नजर आता है अत: भगवान पहले तो हमें यह बतला रहे हैं कि यह संसार क्या है। संसार की उपमा एक ऐसे वृक्ष से की गई है जिसका मूल ऊपर है और शाखाएं नीचे की ओर फैली हुई है। हम तो जितने वृक्ष देखते हैं उनका मूल धरती में होता है और शाखाएं ऊपर होती हैं अत: यह चित्र तो विचित्र जान पड़ता है।

वास्तव में काव्य को शाब्दिक अर्थों से नहीं समझा जा सकता। प्रत्येक शब्द का विशेष अर्थ होता है जिस पर विचार करने पर ही काव्य का मर्म समझा जा सकता है।

ऊपर मूल और नीचे शाखाओं का भौगोलिक दृष्टिकोण से अर्थ लेकर संसार को उलटा लटका हुआ वृक्ष मान लेना ठीक नहीं। यहां ऊपर का अर्थ दिशा की दृष्टि से ऊपर नीचे नहीं। जब हम किसी व्यक्ति के लिए कहते हैं- बड़े ऊंचे व्यक्ति हैं ये, किसी कलाकृति के लिए कहते हैं कि बड़ी ऊंची चीज है, किसी के लिए कहते हैं कि ऊंचा पद है तो इसका अर्थ यह नहीं कि उस व्यक्ति की ऊंचाई बहुत है, बहुत ऊंचे स्थान पर रखी हुई है, वह कुर्सी बहुत ऊंची है। यहां ऊंचा शब्द श्रेठता का परिचायक है। सम्पूर्ण जगत परमात्मा से निसृत हुआ है सबके मूल में परमात्मा है अत: उन्हें श्रेष्ठ स्थान देने के लिए ही संसार वृक्ष को ऊपर की ओर मूल तथा नीचे की ओर शाखा वाला बताया गया है।

यह विचित्र वृक्ष हम इतिहास के पन्नों में भी पाते हैं। इसे कहते हैं वंश वृक्ष। इसमें प्रथम पूर्वज का नाम सबसे ऊपर रहता है, फिर शाखाओं में पुत्र-पौत्र आदि का नाम बंटता चला जाता है। यह विचित्र वृक्ष इतिहास के पन्नों में ही नहीं स्वयं अपने शरीर में भी पाएंगे। हमारा मस्तक ऊपर है और हाथ पैर आदि शाखाओं में बंटा शरीर नीचे। मस्तक ही सारे शरीर की समस्त शाखाओं का संचालन करता है, शरीर रूपी वृक्ष का मूल है वह। इसी

प्रकार संसार रूपी वृक्ष का मूल परमात्मा है जिसे सर्वोच्च स्थान देना चाहिए।

छंद अर्थात वेद संसार के पत्ते हैं। वेद का अर्थ है ज्ञान। संसार में बहुत कुछ है लेकिन अज्ञानी उसे प्राप्त नहीं कर पाता। जिसके पास जितना ज्ञान है वह उतना ही रस इस संसार से प्राप्त करने की सामर्थ्य रखता है और संसार को शोभा देने वाला भी ज्ञान ही है। भौतिक सुन्दरता हो किंतु ज्ञान न हो तो श्री शोभा दिखाई नहीं देती। वृक्ष में पत्ते जितने होते हैं उतना ही रस वे पृथ्वी से सोख पाते हैं और वृक्ष को शोभा देने वाले भी पत्ते ही हैं अत: ज्ञान की उपमा पत्तों से करना उचित ही है।

एक विचित्र बात इस श्लोक में नजर आती है। संसार वृक्ष को अश्वत्थ भी कहा गया है और अव्यय भी। अश्वत्थ वैसे तो पीपल को कहते हैं पर उसका अर्थ देखें तो वह है- जो कल तक भी न रहे। इसके विपरीत अव्यय का अर्थ है- जो कल, आज, भूत, वर्तमान, भविष्य में बिल्कुल समान रहे। इन दोनों विपरीतार्थक शब्दों का प्रयोग एक सांस में किया है भगवान ने। अत: ध्यानपूर्वक इसका अभिप्राय समझने का प्रयत्न करें। अभिप्राय यह है कि संसार बदलता नजर आता है पर तत्व रूप से यह एक ही है। जैसे समुद्र का जल भाप बन कर उड़ा, आकाश में बादल बना। बादल के ऊपर उठने पर पुन: वर्षा की बूंदे बनी। जल बरसा और नदियों, झरनों के रूप में बहता हुआ समुद्र में पहुंच गया। अब आप इसे क्या कहेंगे? बदलना कि न बदलना? बाहरी रूप तो हर चरण में बदल रहा है पर तत्व वही है- जल। इसी दृष्टिकोण से ही संसार अश्वत्थ भी है और अव्यय भी, क्योंकि इसका बाहरी रूप त्रिगुणात्मिकता प्रकृति की गतिविधियों के कारण बदलता रहता है किन्तु तत्व वही है- प्रकृति और पुरुष।

भगवान कहते हैं कि इस संसार वृक्ष को- पत्तों, शाखाओं, मूल आदि को तात्विक रूप से जानने वाला ही वेद वित् अर्थात् ज्ञानी है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवाला: ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ।।२।।

इसकी शाखाएं ऊपर और नीचे भी फैली हुई है, ये गुणों द्वारा पुष्टि

पाती हैं तथा विषय भोग इनकी कोपलें हैं। इसकी जड़ें भी ऊपर तथा नीचे फैली हुई हैं तथा मनुष्य को संसार में कर्मों के द्वारा बांधती हैं।

चारों और फैले इस संसार वृक्ष की शाखाओं को रस देने वाले और परिपुष्ट करने वाले हैं तीन गुण। तात्पर्य यह है कि सत्व, रजस, तमस ये तीन गुण ही हैं, जिसके कारण यह संसार इतना विविधतामय नजर आता है।

शाखाएं ऐसे ही नहीं निकल पड़तीं। पहले कोपलें फूटती हैं, लाल-लाल कोमल पत्ते निकलते हैं फिर धीरे-धीरे वह बड़ी होती है, पुष्ट होती है और कठोर शाखा बन जाती है। ये कोपलें हैं विषय भोग।

बच्चा जन्मा तब बिल्कुल शुद्ध और पवित्र हृदय वाला था। मन कोरा कागज था उसका। पिता को सिगरेट पीते देखा यानी सिगरेट की कली फूटी। उसकी अपनी भी इच्छा हुई। रजस-तमस ने उसे पुष्ट करना आरम्भ किया। पहले-पहले तो कुछ लचीलापन था, कभी पिया कभी नहीं भी पिया। धीरे-धीरे चेन स्मोकर बन गया। अब तो लचकने की कोई गुंजाइश नहीं रही। इस प्रकार अनेकानेक विषय दिखते हैं, कोपलें फूटती हैं और पीछे-पीछे शाखाएं बनती-बढ़ती जाती हैं।

इतनी बात बताने के बाद भगवान कहते हैं कि इसकी जड़ें ऊपर भी फैली हुई हैं और नीचे भी तथा कर्म बंधन से बांधती हैं। ये जड़ें वास्तव में हमारी वासनाएं हैं। विषय भोग तो सभी को चारों ओर दिखाई देते हैं पर सभी लोग तो सभी वस्तुओं के पीछे नहीं भागते। दो भाइयों में ही एक सिगरेट पीने में मस्त रहता है तो दूसरा गीता के अधययन में डूबा रहता है। ऐसा नहीं कि पहले ने कभी गीता का नाम नहीं सुना हो और दूसरे ने कभी सिगरेट नहीं देखी हो। पर वास्तव में दोनों की वासनाओं में भिन्नता है। तात्पर्य यह है कि सभी के कर्तृत्व में मूल है वासना। वासना सत्कर्मों की भी हो सकती है दुष्कर्मों की भी, अतः इसे ऊपर और नीचे की ओर भी फैला हुआ बताया गया है। वासना जैसी भी हो, अच्छी चाहे बुरी, उसकी पूर्ति के लिए कर्म तो करने ही पड़ते हैं, अतः इसे कर्मों द्वारा बांधने वाली बताया। वासना के विषय में तो गीता के आरम्भ से ही बताया ही जा रहा है पर यहां प्रसंगानुसार एक बार फिर दुहरा लेना उचित होगा।

वासना शब्द वास से बना है जिसका अर्थ है सुगंध। किसी भी फूल की पहचान उसकी सुगन्ध है। यदि हम रुमाल में लपेट कर कुछ फूल रखें तो फूल हटा देने पर भी उसकी वास रह जाती है। संसार में जब हम कर्म करते हैं तो हर कर्म एक निश्चित अवधि के बाद शेष हो जाता है, पर उसका जो असर रह जाता है, जिसे हम संस्कार कह देते हैं, वे वासना का रूप ले लेते हैं। ये हमारे भविष्य के कर्मों के निर्माता बन जाते हैं। जैसे जलेबी खाने का कार्य तो चंद मिनटों में समाप्त हो गया लेकिन मन पर जो उसके स्वाद की छाप रह गई वह वासना बन गई क्योंकि वह पुनः हमें कहेगी- जलेबी खाओ, जलेबी खाओ। और हम हलवाई की दुकान जाने को बाध्य हो जाएंगे। फिर जलेबी खाएंगे। फिर मजा आएगा, जलेबी खाने की इच्छा अब ज्यादा जल्दी-जल्दी सताने लगेगी।

वासना हमारे जन्म जन्मांतरों में किए गए कार्यों के संचित संस्कार हैं जो सुप्त रहती हैं, समय-समय पर कभी कोई कभी कोई वासना उभरती है। पहले वह बुद्धि में कामना के रूप में प्रकट होती है। कामना फिर मन में उद्वेग, हलचल जगाती है और यह उद्वेग शरीर को कर्म में लगाता है। कर्म करते हैं तो पुनः संस्कार अर्थात् वासना संचित होती है। वासना-कामना-उद्वेग-कर्म-वासना का चक्र चलता रहता है यही कर्म बंधन है जिसके कारण हम इस संसार में अपने को बंधा हुआ अनुभव करते हैं, उन्मुक्त होकर नहीं जी पाते।

वट वृक्ष की अन्य जड़ों की भांति वासना रूपी जड़ें ऊपर-नीचे फैलकर हमें कर्म बंधन से बांधती हैं तो हम करें क्या? भगवान कहते हैं-

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ।।३।।

इस संसार वृक्ष का जैसा स्वरूप है वैसा समझ में नहीं आता, न ही इसका आदि अन्त और इसकी स्थिति समझ में आती है। दृढ़ मूलों वाले इस अश्वत्थ वृक्ष को असंगता के दृढ़ शस्त्र से काटकर-

प्रस्तुत श्लोक में भगवान का वाक्य पूरा नहीं हुआ है, वह अगले श्लोक में पूरा होगा लेकिन इतना तो समझ गए कि भगवान संसार वृक्ष की वासना रूपी जड़ों को वैराग्य द्वारा नष्ट करने की सलाह देते हैं।

भगवान कहते हैं कि संसार को हम जैसा देख सुन समझ रहे हैं वैसा वह वास्तव में है नहीं। किन्तु इस भ्रांति का कारण संग यानि आसक्ति है।

एक माली के बगीचे में अनार का फूल खिला। पहला फूल था वह उस वृक्ष का। उसके पांच वर्षीय पुत्र ने वह लाल-लाल फूल देखा तो खुशी से झूम उठा। रोज सुबह उठते ही उसे देखने जाता, दिन में भी दसों बार उसे देखता, अपने मित्रों को दिखाता, उन्हें डांटता डपटता भी-'खबरदार! कोई न छुए इसे, नहीं तो टांग तोड़ दूंगा।' इतना मोह हो गया था उसे, इतना प्यारा लगता था उसे वह फूल। एक दिन उसने देखा वह फूल सूख कर गिर पड़ा है। रोने लगा वह बच्चा। माली अत्यन्त प्रसन्न था कि अब फल लगने वाला है। बच्चे के लिए वह फूल का अन्त था, माली के लिए वह फल का आरंभ। बच्चे के लिए वह रोने के विषय था माली के लिए हर्ष का विषय। बच्चा अज्ञानी है इसलिए समझता नहीं न। उसे आगे की बात मालूम नहीं, वह तो केवल अभी जो आंखों से देख रहा है वही समझ पाता है।

हम सब इसी प्रकार अज्ञान और आसक्ति में डूबे हुए हैं। जिसे हम किसी का आरंभ समझते हैं वह वास्तव में आरंभ नहीं होता। जिसे हम अंत समझते हैं वह अंत नहीं होता। जिस वस्तु को हम अपनी समझते हैं वह अपनी नहीं होती। जब हम जन्म दिन पर केक काटते हैं तो मृत्यु खुशी मनाती रहती है कि आ गया मेरे और करीब। सारा संसार और संसार के हमारे क्रिया कलाप मोह भ्रम और अज्ञान की उपज है। स्वप्न में हम जब तक हैं वह हमें यथार्थ ही मालूम देगा। असम्भव है यह समझना कि यह शेर है जो मेरी ओर आ रहा है वह स्वप्न का शेर है, मैं क्यों डरूं इससे। स्वप्न में हम डरेंगे भी, भागेंगे भी, चिल्लाएंगे भी। जब तक जागेंगे नहीं तब तक यह भ्रम टूट ही नहीं सकता, तब तक डर दूर हो ही नहीं सकता। स्वप्न के संदर्भ में जाग्रत अवस्था हमें सत्य जान पड़ती है पर जाग्रत अवस्था में यह जो खेल हमें दिखाई पड़ रहा है यह भी है भ्रम ही। यह हमारे अज्ञान की ही उपज है पर हम

तब तक इसे मिथ्या मान नहीं सकते जब तक इस स्थिति में हैं। जागृत अवस्था से ऊपर एक और अवस्था है जिसे तुरीय अवस्था कहते हैं। जब इस अवस्था को प्राप्त करेंगे तभी ठीक-ठीक समझ पाएंगे इस संसार के भ्रम जाल को। आसक्ति मोह और विद्या की नींद में हम भले ही अपने को पूर्ण चैतन्य समझते रहें, यथार्थ का ज्ञाता मानते रहें पर सच यह है कि जब तक वासनाएं रूपी जड़ें हैं तब तक हम सच्चाई नहीं जान सकते।

क्या उपाय है इन वासनाओं को नष्ट करने का? भगवान कहते हैं- अनासक्ति। अनासक्ति की कुल्हाड़ी से दृढ़ता के साथ इन्हें काट डालो। धीरे-धीरे कुदेरते रहने से कुछ काम नहीं बनने वाला। हम सोचते हैं कि संसार से हमारी प्रीति वैसी की वैसी बनी रहे और सत्य का ज्ञान भी हो जाए यानि सारे दुख भी मिट जाएं -असम्भव है। संसार तुम्हें लात मारे उसके पहले तुम लगाओ लात उसे।

तो क्या छोड़ दें संसार को? छोड़ दें पति, पत्नी, पुत्र, पुत्री, परिवार और समाज को? बन जाएं बाबाजी और चल पड़ें हिमालय ही ओर? नहीं। भगवान का यह अभिप्राय कदापि नहीं। वे तो असंगता का शस्त्र धारण करने को कहते हैं। भगवान ने इसी भ्रम को न जन्मने देने के लिए गीता में वैराग्य शब्द का प्रयोग न कर के अनासक्ति और असंगता का प्रयोग किया है। संसार में रहें किन्तु निस्संग होकर। किसी भी वस्तु के प्रति महत्व बुद्धि का त्याग ही उसका वास्तविक त्याग है। हम आम खाना छोड़ दें पर मन ही मन उसी का विचार करते रहें तो ऐसे में अपने को त्यागी समझना बड़ा भारी भ्रम है। आम खाने की वासना रूपी जड़ तो पुष्ट होती जा रही है। हमने रसना पर विजय पाई नहीं है। विजय तो तब होगी जब हम खाएं या न खाएं, हमें कोई फर्क न हो। यह जीवन-मुक्ति की अवस्था है कि संसार में हमें कुछ भी मिले या न मिले, हम उत्तेजित, उद्विग्न और कुंठित न हो। तब हमारी वासनाओं को रस मिलना बंद हो जाएगा। तब यह संसार हमारे लिए होकर भी नहीं रहेगा। तभी हम इसके आदि अंत, प्रतिष्ठा और स्वरूप को ठीक-ठीक समझ पाएंगे।

असंगता के द्वारा संसार से सम्बन्ध तोड़ कर हम क्या करें? यह बताते हुए भगवान कहते हैं।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।।४।।

तब उस परमानन्द को खोजना चाहिए जहां जाकर कोई वापस नहीं आता। यह भाव रखें कि मैं उस आदि पुरुष की शरण में हूं जिससे इस पुरातन संसार वृक्ष की प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है।

संसार से केवल मोह जनित सम्बन्ध विच्छेद करने से कुछ नहीं होगा। इसके साथ जीवन्मुक्ति के परमपद की अभिलाषा भी होनी चाहिए। बहुत से ऐसे लोग हैं जो संसार से थक, हार या ऊब चुके हैं, उन्हें इस संसार की किसी भी वस्तु या व्यक्ति में आकर्षण नहीं। क्या करते हैं वे? आत्महत्या। अपने आप को मौत की गोद में डाल देते हैं जिसमें जाने के बाद सारे दुखों का अंत हो जाए। लेकिन हमारे भगवान कृष्ण ऐसी स्थिति की बात नहीं करते जब जीवन की हार हम पर हावी हो जाए और हम संसार त्यागने को विवश हो जाएं। गीता के श्लोकों में विवशता की कराह नहीं, उत्साह की हुंकार है जो हमें उत्तरोत्तर प्रगति पथ पर बढ़ने की प्रेरणा देती है।

संसार हमें इस लिए नहीं छोड़ना कि हम जो चाह रहे हैं वह हमें मिल नहीं रहा। पहले तो हमें अपनी चाह ही बदलना है। जिस पद की प्राप्ति के लिए यह नर तन मिला है उसकी चाह पैदा करनी है। संसार को छोड़ना है तो उस चाह के पीछे। बहुत से लोग गृहस्थी त्याग देते हैं पर फिर उन्हें समझ में नहीं आता कि क्या करें। आगे की परिकल्पना उनके पास है नहीं अतः इधर उधर भटक कर भिक्षाटन पर निर्वाह कर समाज के ऊपर भार बनते हैं।

भगवान ने स्पष्ट दिशा दिखाई है– त्यागो संसार को और चल पड़ो मुक्ति की राह पर। किन्तु चलने का उत्साह कैसे आएगा जब तक हम उसकी महिमा नहीं जानेंगे। भगवान बताते हैं कि यह परम पद ऐसा है कि फिर तुम कभी अपनी इस लचर जिन्दगी में वापस नहीं लौटोगे। एक बार वह आत्यन्तिक सुख, वह परम आनन्द मिल गया तो फिर कहीं जाएगा नहीं। वह स्थाई होगा। कई लोग सपने में भगवान के दर्शन करते हैं या कोई साधु मस्तक पर अंगूठा

रख कर कुंडलिनी जगाने के नाम पर कोई अद्‌भुत अनुभव करा देता है। स्पष्ट समझ लें कि यह सब भ्रम है। आदि नारायण के दर्शन हो जाएं तो वे फिर ओझल नहीं होते। फिर पल में हंसना, पल में रोना की स्थिति आती ही नहीं।

बहुत ही ऊंची स्थिति है यह तो। संसार को त्याग दें, इस स्थिति की प्राप्ति को अपने मन में लक्ष्य के रूप में धारण कर लें, फिर क्या करें, भगवान बताएंगे? भगवान कोई बात अधूरी नहीं छोड़ते। लक्ष्य दिखाते हैं तो जाने का मार्ग भी बताते हैं। इस श्लोक में बताया कि सबसे पहले तो उसी आदि देव नारायण की शरण ग्रहण करें जिससे यह संसार निसृत हुआ, जिसे हम पाना चाहते हैं। बड़ी महत्वपूर्ण बात है यह। साधारणतः हम ईश्वर की शरण तभी ग्रहण करते हैं जब अपना सारा बल चुक जाए। बहुत कोशिश कर रहे हैं, रात दिन जुटे हुए हैं। 'मैं यह पाकर रहूंगा, यह कर कर रहूंगा' कहते रहते हैं और कुछ नहीं कर पाते तब कहते हैं भगवान मैं तेरी शरण में हूं। मुझसे कुछ नहीं हो सकता, मुझे अपनी शरण में ले लो अब तो। अशक्त, विवश और अकर्मण्य बन कर भगवान की शरण में जाएंगे तो क्या लाभ होगा? भगवान तो कहते हैं कि लक्ष्य निर्धारित किया है तो उत्साह के क्षणों में ही मेरी शरण लो। कार्य क्षेत्र में कूदने से पहले ही अपने आप को उस परमपिता पर सौंप कर देखें। अपने कर्तृत्व और अपनी कुशलता का अभिमान त्यागकर भगवान से प्रार्थना करें और तब साधना का शुभारम्भ करें। साधना का तो अर्थ ही है अहंकार का पूर्ण विगलन। इस अहंकार त्याग का शुभारम्भ कर्म करने से पहले ही, भगवान की शरणागति से ही हो। यह नुस्खा केवल परम पद के यात्री के लिए ही नहीं, हम सबके लिए कारगर है। अपनी दिनचर्या का आरम्भ भगवान की प्रार्थना के साथ करें। हमारी सफलता असफलता के लिए अपना पुरुषार्थ बहुत माने रखता है इसमें कोई शक नहीं। पर यही सब कुछ नहीं। बहुत से लोगों के कर्म कारण बनते हैं तब कोई सफलता मिलती है। शिकारी कितनी भी कुशलता से निशाना क्यों न लगाए सफलता तभी मिलगी जब कि उसका शिकार उसका तीर पहुंचने तक उसी स्थान में रहे, हिल न जाए। अपने हर कार्य का विश्लेषण कर के देखें, पता चलेगा कि कितने किन्तु परन्तु हो सकते हैं उसकी सफलता असफलता के लिए।

अतः इन सब सफलताओं में हम गर्व से इतराए नहीं, इन असफलताओं से निराश होकर भविष्य में पुरुषार्थ का त्याग ही न कर बैठें इसके लिए आवश्यक है कि हम परमात्मा की सत्ता को पहचानें। वास्तविक कर्ता वही है मानकर अपने पुरुषार्थ को न त्यागें, पर उसका अभिमान अवश्य त्यागें और तब कर्म क्षेत्र में कूद कर तो देखें- अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों में बुद्धि का समत्व किस प्रकार बना रहेगा।

यहां तो बात साधारण कर्मों की नहीं, मानव जीवन के परम लक्ष्य की है जिसके लिए भगवान उस आदि पुरुष की शरण ग्रहण करने को कह रहे हैं। यह आदि पुरुष कौन है, कैसा है, इसे हम कैसे समझ सकते हैं यही इस अध्याय का विषय है।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।।५।।

मान और मोह से मुक्त होकर, आसक्ति के दोष पर विजय पाकर, आत्मा में नित्य निवास कर, कामनाओं का पूर्णतः त्याग कर, सुख दुख आदि द्वन्द्वों के प्रभाव से मुक्त होकर ज्ञानी पुरुष उस अव्यय पद को प्राप्त करते हैं।

भगवान कहते हैं अपने को नारायण की ओर ले चलो। हम हैं जो संसार की ओर भागने के चक्कर में ठोकरें खा रहे हैं, लहुलुहान हो रहे हैं।

एक व्यक्ति ने रेडियो खरीदा। किन्तु उसे रेडियो संबंधी दो ही बातें पता थी- ऑन करना, ऑफ करना। उसने जब रेडियो खरीदा तो वह ऐसे स्टेशन पर लगा हुआ था जिसे कर्ण भेदी पॉप म्यूजिक प्रसारित होता था। वह परेशान हो गया। पड़ोसी के रेडियो से सुबह-सुबह भजन सुनाई देते तो उसे बहुत अच्छा लगता था पर करे क्या? एक दिन पड़ोसी के सामने रोना रो रहा था कि दोस्त! तुम्हारा रेडियो तो बहुत ही अच्छा है, इतने सुन्दर-सुन्दर भजन सुनाता है, मेरा रेडियो तो पॉप म्यूजिक के अलावा और कुछ सुनाता ही नहीं। पड़ोसी हंसने लगा। उसने रेडियो मंगवाया और समझाया कि इसमें

ट्यून करने के लिए अलग-अलग नॉब लगे हुए हैं, इन्हें घुमाओ और एडजस्ट करो, तुम भी भजन सुन पाओगे।

हमारा व्यक्तित्व भी काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, मात्सर्य का संगीत ही सुनाता है। यदि इससे मधुर संगीत सुनना है तो 'नारायण स्टेशन' पर 'ट्यून' करना पड़ेगा। इसी ट्यूनिंग के लिए पांच नॉब घूमाने का निर्देश दे रहे हैं भगवान।

निर्मान मोहाः-अपने विषय में हम सभी बड़े-बड़े उच्च विचार रखते हैं, अपने को बड़ा भला और महान समझते हैं, अपने धन, दौलत, परिवार, पुत्र, मकान, जायदाद पर बड़ा गुमान होता है हमें, दूसरे समझें या न समझें हम तो समझते हैं कि हमारे जैसा कोई हो ही नहीं सकता। यही मान है, और अपनी इन वस्तुओं के प्रति हमारे दोषपूर्ण विचारों को मोह कहते हैं। मान और मोह हमें झूठे संसार में जिलाए रखता है और हम सच से अवगत हो ही नहीं पाते। अतः सत्य की राह पकड़नी है तो मान और मोह से पिंड छुड़ाना पड़ेगा।

जितसंग दोषाः-जब हम अपनी इन्द्रियों से दिखाई देने वाले संसार के स्वरूप को सत्य मान लेते हैं, उनसे मिलने वाले सुख को ही परम उपलब्धि समझने लगते हैं तो हमारा उनके साथ ऐसा रिश्ता बन जाता है जो नहीं बनना चाहिए। जैसे कुछ लोग समझते हैं कि यह शरीर ही सब कुछ है। तब शरीर को फिट रखना ही उनका परम लक्ष्य बन जाता है। उसी को खिलाने, पिलाने, व्यायाम कराने, आराम दिलाने, कभी धूप दिखाने, कभी सजाने, कभी संवारने में उनकी जिन्दगी बीतती है। ऐसे लोग यह समझ ही नहीं पाते कि शरीर तो परमात्मा के द्वारा दिया गया साधन है जिसका उपयोग कर हम अपने लक्ष्य को पा सकते हैं। इसी प्रकार कुछ लोग समझते हैं कि पैसा ही सब कुछ है। पैसा हमारे जीवन में अति महत्वपूर्ण स्थान रखता है यह समझने वाले तो प्रायः हम सभी हैं लेकिन हम उनकी क्या बराबरी कर सकेंगे जो समझते हैं कि पैसा 'सब कुछ' है।

ठीक इसी प्रकार भगवान बहुत कुछ है यह तो हम मानते हैं लेकिन उन महात्माओं ज्ञानियों की क्या बराबरी कर सकेंगे जो समझते हैं कि भगवान ही सब कुछ है। वे परमात्मा की प्राप्ति के लिए उसी प्रकार व्याकुल और प्रयत्नशील रहते हैं जिस प्रकार लोभी बनिया धन के लिए। यदि परमात्मा

की प्राप्ति करनी है तो संसार की वस्तुओं के साथ आसक्ति को जो पालते बढ़ाते जा रहे हैं उसे छोड़ कर सच के लिए आंखें खोलनी होंगी।

अध्यात्म नित्याः– जब संसार की वस्तुओं के झूठेपन को पहचान लें और यह समझ लें कि यह तो ऊपरी छिलका मात्र है, सत्य तो आत्मा है तो आत्म भाव में रहने का अधिक से अधिक प्रयास करें।

विनिवृत्तकामाः– परमात्मा और जीव के बीच खाई बनाने वाली वासनाएं ही हैं। ये अव्यक्त रहती है और जब व्यक्त होती है तब कामना का रूप लेती है। एक भी कामना हमें हमारे लक्ष्य से च्युत कराने के लिए पर्याप्त है अतः संसार की सभी कामनाओं का त्याग कर केवल ईश्वर प्राप्ति की कामना को सुदृढ़ करने से ही उस परम पद की प्राप्ति होगी। संसार भी रहे और ईश्वर भी मिले, यह नहीं हो सकता। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि संसार छोड़ने से ईश्वर मिल जाता है। संसार की वस्तुओं के प्रति महत्व बुद्धि का त्याग ही संसार का त्याग है।

सुख दुख संज्ञै द्वन्द्वैर्विमुक्ताः– सुख दुख आदि अनुकूल प्रतिकूल अवस्थाओं में सम रहने का प्रयास अति आवश्यक है। इसके बिना भगवान तो क्या, सांसारिक उपलब्धियां भी नहीं मिलती। जो व्यक्ति बात बात पर उत्तेजित होता है वह जीवन में कुछ नहीं कर सकता। छोटे बच्चे जब पहली बार स्कूल जाते हैं तो प्रतिदिन दो बार रोते हैं। एक तो स्कूल जाते वक्त जब उन्हें मम्मी को छोड़ना पड़ता है, दूसरे घर लौटते वक्त जब स्कूल के खिलौने उनसे छुड़वा लिए जाते हैं। मात्र पन्द्रह दिन में उनकी बाल बुद्धि यह अच्छी तरह समझ जाती है कि दस बजे मम्मी को और दो बजे खिलौनों को छोड़ना ही पड़ेगा। फिर वे रोना बंद कर देते हैं। और हम बड़े! क्या हम अच्छी तरह नहीं जानते कि गृहस्थी है तो सुख दुख आएंगे ही? शरीर है तो रोग आएंगे ही, व्यापार किया तो हानि लाभ होगा ही, परिवार बनाया है तो कभी किसी का जन्म कभी किसी की मृत्यु होगी ही। न कोई भी दुख स्थायी रहने वाला है न कोई भी सुख स्थायी रहने वाला है। फिर भी हम सुख में ऐसे ढोल बजाते हैं कि सारे समाज को पता चल जाए। सुख प्रदर्शन भी हमने कितना धूमधाम से किया इसकी वाहवाही हो। जितना सुख में उछलते हैं उतना ही दुख में कलपते हैं और देखते रहते हैं कि शोक प्रदर्शित करने कौन आया कौन नहीं।

दुख सुख में सबको भागीदार क्यों बनाना? ये तो आती जाती बात है, इन्हें तो धैर्य और शांति के साथ सहन करें। यदि आज हमारे दिन सुख के चल रहे हैं तो उसका उपयोग दूसरों की सहायता भलाई में करें। यदि आज हमारे दिन दुख में हैं तो संसार की निस्सारता पर विचार कर इससे वैराग्य बढ़ाएं तब दोनों स्थितियां हमारे लिए फायदेमंद साबित हो जाएंगी।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।६।।

न वहां सूर्य चमकता है, न चन्द्रमा न अग्नि। मेरा वह परम धाम ऐसा है जहां जाकर कोई वापस नहीं आता।

परम लक्ष्य का यह वर्णन स्थूल बुद्धि से पढ़कर तो कोई इसे नहीं पाना चाहेगा। न सूर्य, न चन्द्रमा, न अग्नि–इससे तो उत्तरी ध्रुव ही अच्छे। कम से कम आग तो जला सकते हैं और फिर चाहे तो वापस भी आ सकते हैं। इस परम धाम में जाकर चाहे तो वापस भी नहीं आ पाएंगे। अपने तो दूर ही रहें भगवान के उपदेशों से। हम जैसे हैं वैसे ही भले। विचार करना जरूरी है। सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि जहां चमकती नहीं वह स्थान अंधकार मय नहीं होगा। कड़कती दोपहरी में धूप में हम दीपक रखें तो वह वहां चमकता नहीं क्योंकि उसके चारों ओर उससे अनन्तगुणा प्रकाश फैला हुआ है। भगवान का यह परमधाम तो सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के तेज का कारण और स्रोत है अतः उसे हम इनके प्रकाश में नहीं देख सकते। टार्च की रोशनी का कारण है बैटरी। टार्च से हम जो चाहें देख सकते हैं मगर बैटरी को नहीं देख सकते।

हमें लगता है कि हम प्रकाश के कारण देख पाते हैं। पर प्रकाश हो और आंखें न हो तो देख पाएंगे? आंखें भी हों पर उसके पीछे आप्टिक नर्व से जुड़ा मस्तिष्क न हो तो देख पाएंगे? आखें, आप्टिक नर्व और ब्रेन, सब कुछ हो पर चेतना न हो, आत्मा न हो तो देख पाएंगे? अतः मूल है आत्मा। लेकिन हमारा ध्यान प्रकाश में दिखने वाली वस्तुओं पर रहता है, अंदर की यात्रा हम कभी भी नहीं करते। आत्मा को देखने के लिए इन प्रकाशमान वस्तुओं को छोड़ देना पड़ेगा।

अब रही बात वापस न आने की। इससे भी बड़ा डर लगता है। संसार में दुख है तो क्या हुआ, मजा भी तो है ही, अत: किसी को कहो कि ध्यान में आत्मा केन्द्रित करो या मन भगवान में लगाओ तो वह सोचने लगता है कि इन सबमें लग गए तो लाइफ का एन्जायमेंट खत्म हो जाएगा। यदि इस तरह का भय मन में हो तो जरा अपने जीवन का विश्लेषण करके देखें, क्या आपने कभी किसी वस्तु के मजे को छोड़ा है जब तक कि दूसरी वस्तु उससे अधिक मजेदार न लगी हो? क्रिकेट में जब तक मजा नहीं आया तब तक चाभी की रेल और दन दन करती बंदूक का मोह छूटा? जब तक वैवाहिक सुख का अनुभव नहीं हुआ तब तक दोस्तों की महफिल छूटी? इसलिए वर्तमान सुख मिलना बंद हो जाएगा यह सोचना निरर्थक है। जब इससे अधिक सुख का अनुभव होगा तब ही इसका रस छूटेगा, लेकिन एक बार तो इस रस का लालच छोड़कर उस रस की खोज के लिए परिश्रम करना ही होगा।

भगवान की प्राप्ति या आत्मज्ञान का रस तो परम रस है। उसे पाने के बाद वापस न लौटने का अर्थ यह है कि एक बार इस रस का स्वाद मिल गया तो संसार की तू, मैं, तेरी वस्तु, मेरा धन की किच-किच में दिल फंसेगा ही नहीं। वह उसी आनन्द में मग्न रहेगा। यह आनंद केवल उतनी देर ही नहीं रहेगा जितनी देर आप भजन या ध्यान करते हैं। यह रस तो तब भी मजा देता रहेगा जब आप अपने कर्तव्यों को पूरा करने के लिए संसार में व्यवहार करते रहेंगे। आत्मज्ञान होने के बाद तो सृष्टि का कण-कण परमात्म मय ही जान पड़ेगा। हर जीव में श्री कृष्ण ही नजर आएंगे।

आत्मज्ञान की प्राप्ति और सबमें श्रीकृष्ण को देख पाने की स्थिति के लिए प्रयत्न करने के पहले अपने मन में जरा विश्वास तो होना जरूरी है कि सचमुच भगवान सब में हैं। सैद्धांतिक ज्ञान की प्राप्ति के बाद ही हम व्यवहारिक प्रयोग कर पाते हैं। अत: भगवान समझा रहे हैं कि वे किस प्रकार सृष्टि के विभिन्न नाम रूपों में अभिव्यक्त हो रहे हैं।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।।७।।

मेरा सनातन अंश इस जीव लोक में जीव बन कर प्रकृति में स्थित

होता है तथा पांच इन्द्रियों और छठे मन को आकर्षित करता है।

जब भगवान यह कहते हैं कि जीवात्मा मेरा अंश है तो इसका अर्थ यह नहीं कि परमात्मा विभिन्न खंडों में टुकड़े-टुकड़े हो कर विभिन्न प्राणियों का रूप धरता है। यह भाषा तो सापेक्षिक है। जैसे आकाश के टुकड़े टुकड़े नहीं होते पर दीवारें खड़ी होने के कारण एक कमरे का आकाश दूसरे कमरे के आकाश से भिन्न जान पड़ने लगता है उसी प्रकार सर्वव्यापी परमात्मा को भी जब मन, बुद्धि, चित्त की परिखाओं में से देखने लगते हैं तो ऐसा लगता है कि जीवात्मा परमात्मा का अंश है।

बाल्टी के पानी में चन्द्रमा का नाचना एक आभास मात्र है। चन्द्रमा नहीं नाचता। उसका प्रतिबिम्ब हिलते पानी पर पड़ने के कारण भिन्न प्रकार का जान पड़ने लगता है। जीवात्मा परमात्मा का भी रिश्ता कुछ ऐसा ही है। ये बातें अत्यन्त सूक्ष्म है, अतः इन्हें स्थूल शब्दों से समझने समझाने का प्रयत्न करने में अटपटी लगती है। इन्हें पढ़ कर स्थूल बुद्धि द्वारा समझने के प्रयत्न से अधिक आवश्यक है श्रद्धा के साथ साधना कर जानने का प्रयत्न करना। पर एक बार कुछ तो बात समझनी ही होगी ताकि श्रद्धा जागे। यदि हम वीर्य में स्थित शुक्र को परमात्मा का अंश मान लें तो बात कुछ समझ में आती है। प्रकृति गर्भ है। शुक्राणु गर्भ में स्थापित हो कर भ्रूण बनता है। धीरे-धीरे इसी भ्रूण के आंख, नाक, कान आदि इन्द्रियां बनने लगती हैं। चार-पांच महीने के बाद इसमें मन यानी चेतना के और लक्षण प्रकट होने लगते हैं और नए जीव की सृष्टि होती है। शुक्र के चारों ओर जो पदार्थ लिपटा हुआ है वह इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति द्वारा उत्पन्न किया गया पदार्थ है। अतः हम समझ लें कि जितने भी प्राणी दिखाई दे रहे हैं उनका स्थूल रूप तो प्रकृति है और तात्विक स्वरूप परमात्मा। यह तात्विक स्वरूप परमात्मा जब तक प्रकृति में स्थित है तब तक ही वह जीव कहलाता है। आत्मा के निकल जाने के बाद वह लाश कहलाने लगता है जिसकी कोई कीमत नहीं। इसीलिए भगवान कहते हैं कि मेरा सनातन अंश प्रकृति द्वारा निर्मित पांच इन्द्रियों और मन को संग्रहित करके जीव बनता है।

फिर क्या होता है यह बताने के लिए भगवान कहते हैं:-

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ।।८।।

शरीर का ईश्वर (जीवात्मा) जब नया शरीर प्राप्त करता है और (पुराना) शरीर छोड़ता है तो जैसे वायु गन्ध के स्थान से गन्ध ग्रहण करके ले जाती है उसी प्रकार जीवात्मा भी इनको (मन आदि को) ले जाता है।

मन बुद्धि की उपाधियों से परिच्छिन्न परमात्म अंश को जीव कहते हैं। यह जीव समय-समय पर विभिन्न प्रकार के स्थूल शरीर धारण करता है जिन्हें हम विभिन्न योनियां कहते हैं। इन योनियों का स्वरूप कैसा होगा यह मन बुद्धि के संस्कार निर्धारित करते हैं जिन्हें वासना कहते हैं। जिस प्रकार का शरीर उन वासनाओं की पूर्ति के लिए सबसे अधिक अनुकूल होता है उसी प्रकार का शरीर धारण कर लिया जाता है। जैसे ही जीवात्मा कोई विशेष रूप धारण करता है, वह अन्तःकरण और बाह्य इन्द्रियों के भी स्वामी के रूप में कार्य करने लगता है अतः इसके लिए यहां ईश्वर शब्द का प्रयोग किया गया है। मृत्यु होने पर स्थूल शरीर काम करना बंद कर देता है। उसका स्वरूप, आकार सब तो वही रहता है पर न आंखें देखती है, न ब्रेन सोचता है क्योंकि उनको शक्ति देने वाला चेतन तत्व जीवात्मा उस शरीर से निकल चुका है। लेकिन मन, बुद्धि का क्या होता है?

ध्यान दें कि मन-बुद्धि नाम का हमारे शरीर में कोई अंग नहीं, यह तो हमारे संस्कारों , विचारों, भावनाओं आदि का एक सामूहिक रूप है। इसीलिए उन्हें सूक्ष्म शरीर कहा जाता है। क्रेनियम के अन्दर स्थित ब्रेन को मस्तिष्क कह सकते हैं बुद्धि नहीं। रक्त पम्प करने वाले उपकरण को दिल कहते हैं, मन नहीं। मन, बुद्धि का तो हमारे शरीर में वही स्थान है जो फूलों की सुगंध का फूलों में है। जैसे सुगंध फूल की पहचान है उसी प्रकार हमारे विचार, संस्कार, भावनाएं एवं आदर्श हमारी पहचान हैं, जिसे हम अपना व्यक्तित्व कहते हैं। मृत्यु होने पर ये संस्कार स्थूल शरीर में नहीं पड़े रहते। भगवान कहते हैं कि जैसे वायु फूलों से गंध उड़ा ले जाती है उसी प्रकार जीवात्मा भी शरीर त्यागने के समय इन्हें अपने साथ ले जाता है और नया शरीर धारण करता है। इस प्रकार स्थूल शरीर तो जीव का गृह मात्र है जहां रहकर हम

नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हैं और उनके अनुसार संस्कार संचित करते हैं। समय आने पर जीवात्मा इस गृह को त्याग कर नवीन गृह धारण करता है।

एक बार पुनः स्मरण कर लें कि कभी तो हम कह देते हैं कि जीवात्मा परमात्मा से भिन्न नहीं, कभी कहते हैं जीवात्मा परमात्मा से मिल जाता है (अर्थात् पहले भिन्न था!) कभी हम कहते हैं कि जीवात्मा शरीर से निकलता या प्रवेश करता है कभी कहते हैं कि जीव ब्रह्म का अंश नहीं वह तो ब्रह्म ही है जो सर्वव्यापी है। कभी कहते हैं कि आत्मा निर्लेप है कभी कहते हैं वासनाओं के लेप के कारण वह विभिन्न योनियां धारण करती हैं। कभी हम कहते हैं कि मन, बुद्धि, अहंकार से परिछिन्न परमात्म अंश को जीव कहा जाता है कभी हम कहते हैं कि परमात्मा की दिव्य ज्योति जब मन बुद्धि चित्त पर पड़ती है तो वे चैतन्य हो उठते हैं जिसे जीव कहा जाता है। ये सब व्यक्तव्य भिन्न-भिन्न जान पड़ते हैं, कुछ बिल्कुल विरोधाभासी ही हैं। ऐसे में कैसे किसी भी व्यक्तव्य पर विश्वास और श्रद्धा होगी?

आप इसका उत्तर खोज रहे हों तो एक ऐसा व्यक्ति ढूढ़िए जो जन्मान्ध हो और जिसने कभी खीर नहीं खाई हो। उसे आप खीर का स्वरूप और स्वाद (गुण) समझाने का प्रयत्न कीजिए और नोट करते जाइये अपने व्यक्तव्यों को। देखिएगा, इसी प्रकार परस्पर विरोधाभासी होंगे।

जो बात अनुभव के बिना समझ में आ ही नहीं सकती, जिसे अनुभव करने के लिए जैसी योग्यता की आवश्यकता है वह हममें रंच मात्र भी नहीं तो केवल शब्दों की बाजीगरी ऐसी ही प्रतीत होगी। अतः आवश्यकता तो इस बात की है कि इनके विवाद में न पड़ कर श्रद्धा से काम लें कि यदि हमें कुछ समझ में नहीं आ रहा है तो यह हमारी योग्यता की कमी है। साधना का व्रत लें जीवन में, और सृष्टि के कण-कण में परमात्मा की सत्ता और शक्ति को पहचानने के लिए यथासंभव प्रयत्न करें। अभी हमारी दृष्टि हमारी बुद्धि बाहर की ओर दौड़ती है, जरा अन्तर्मुखी हों और देखें कि इन्द्रियों के पीछे कौन है-

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ।।९।।

कान, आंख, त्वचा, रसना तथा नासिका और मन का भी अधिष्ठाता बन (वह जीवात्मा) विषयों का सेवन करता है।

हमारी सभी इन्द्रियों के पीछे वास्तविक कर्ता वही है। हमारी इन्द्रियों द्वारा भोगे जाने वाले सभी विषयों का वास्तविक भोक्ता भी वही है। हमें लगता है कि हमारी आंखें देख रही हैं। पर बहुत बार ऐसा होता है कि हमारे सामने से कोई व्यक्ति गुजर जाता है और हम उसे देख नहीं पाते। कभी-कभी हमसे कोई कुछ कह रहा होता है और हम सुनते रहते हैं और फिर अचानक हमें लगता है कि इसने क्या कहा मैंने सुना नहीं। ऐसे वक्त में हम माफी मांगते हुए कहते हैं- भाई मेरा मन कहीं और था, इसलिए मैं सुन नहीं पाया या देख नहीं पाया। तात्पर्य यह है कि देखने और सुनने वाला वास्तव में कान या आंख नहीं। मन इनका अधिष्ठता है तभी ये अपने-अपने क्षेत्र में कार्य कर पाते हैं।

अब मन की बात भी सूक्ष्मता से देखें तो मन के पीछे जब तक चैतन्य तत्व विद्यमान नहीं हो तब तक मन भी कुछ नहीं कर सकता। इन अर्थों में इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगने वाला वह चैतन्यतत्व जीवात्मा ही है।

यह जीवात्मा जब हमारे जीवन के हर भोग, हर अनुभव के साथ इतने घनिष्ठ रूप में जुड़ा है तो उसे जान क्यों नहीं पाते? जो परमात्मा हमारे चारों और सर्वत्र और हममें भी सदा निवास करने वालना है हम उसे पहचान क्यों नहीं पाते?

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।।१०।।

शरीर को छोड़कर जाते हुए को, शरीर में स्थित हुए को, (विषयों को) भोगते हुए को तथा तीनों गुणों से युक्त हुए (तत्व) को आज्ञानीजन नहीं देख पाते, ज्ञान चक्षु वाले ही देखते हैं।

किसी भी वस्तु का हमारे अन्दर बाहर या इर्द-गिर्द होना ही उसे देख पाने के लिए पर्याप्त नहीं। अरबों खरबों बैक्टिरिया हमारे शरीर के भीतर बाहर और ऊपर हैं पर हम उन्हें देख नहीं पाते क्योंकि उन्हें देखने के लिए ये स्थूल आंखें अपर्याप्त हैं। उन्हें देखने के लिए तो खुर्दबीन चाहिए। इसी प्रकार किसी भी ज्ञान के लिए स्थूल बुद्धि पर्याप्त नहीं। स्थूल बुद्धि से हम गणित के सिद्धांत सीख सकते हैं लेकिन सभी कुछ नहीं पा सकते। कविता तो सभी पढ़ सकते हैं, उसे सुनकर सराह भी सकते हैं लेकिन उसके गुह्य अर्थ और सौन्दर्य को कोई भावुक साहित्यकार ही सही-सही समझ सकता है। हीरा तो सभी देख लेंगे पर उसके वास्तविक मोल को तो जौहरी ही आंक सकता है। फिर अध्यात्म ज्ञान तो सूक्ष्मतम ज्ञान है, वह तो सौन्दर्य और मूल्य की परिधि से परे है अतः जिस बुद्धि से संसार की वस्तुओं को देखते परखते हैं, उससे आत्मा को कैसे देखेंगे? भले ही बुद्धि कितनी भी तीक्ष्ण क्यों न हो।

भगवान कहते हैं कि आत्मा को देखने के लिए ज्ञान चक्षु चाहिए। यह ज्ञान चक्षु बुद्धि नहीं है। बुद्धि तीक्ष्ण तो हो पर साथ ही निर्मल हो अन्तर्मुखी हो, चिन्तन शील हो, जिज्ञासु हो तब उसकी जो समझने की शक्ति होती है उसे ज्ञान चक्षु कहते हैं। वैसी ही बुद्धि इन परस्पर विरोधाभासी जान पड़ने वाले वक्तव्यों के जंगल से ऊपर उठकर इस समस्त ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता को पहचान सकती है।

आत्मज्ञान के लिए केवल प्रयत्नशीलता ही पर्याप्त नहीं यह बताते हुए भगवान कहते हैं-

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ।।११।।

योगी जन भी अपने हृदय में स्थित आत्मा को यत्न करते हुए ही जान पाते हैं और जो अकृतात्मा हैं अर्थात् जिन्होंने अपने अन्तःकरण को शुद्ध नहीं किया वे अज्ञानी जन तो यत्न करते हुए भी नहीं जानते हैं।

भगवान के इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि परमात्मा की प्राप्ति की पहली शर्त है अन्त:करण की शुद्धि तथा इन्द्रिय मन बुद्धि पर संयम। परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयत्न तो करें पर योगी भी होना पड़ेगा। योगी का अर्थ साधु नहीं। हिन्दू धर्म में योग की दो परिभाषाएं बहुत प्रचलित हैं। एक तो भगवान द्वारा गीता में दी गई परिभाषा- समत्वं योग उच्यते अर्थात् (बुद्धि का) समत्व ही योग है। दूसरी महर्षि पातंजलि द्वारा दी गई- योग: चित्त वृत्ति निरोध: अर्थात् अन्त:करण की वृत्तियों पर संयम ही योग है। दोनों परिभाषाएं तत्वत: एक ही हैं। हमारे अन्त:करण में जब काम, क्रोध, राग, द्वेष, लोभ, मोह, अभिमान, ईर्ष्या आदि का मल नहीं रहेगा तो हमारे मन बुद्धि बहकेंगे नहीं। वे संयमित रहेंगे। हर परिस्थिति में बुद्धि समान रूप से कार्य करेगी। अभी तो हमारी मन बुद्धि का संतुलन डगमगाता रहता है, कभी किसी के प्रति मोह हमें बेचैन और व्याकुल कर देता है और कभी ईर्ष्या हमें अशान्त करते हुए नाना प्रकार के छल कपट करने को बाध्य कर देती है।

इसलिए यदि आत्मज्ञान के लिए प्रयत्न करना है तो शुरुआत शुरु से ही होनी चाहिए। पहले तो प्रयत्न अपने इन शत्रुओं को हटा कर मन-बुद्धि को निर्मल बनाने के लिए करें। ऐसा करे बिना कितने ही भजन-कीर्तन कर लें, कितनी ही माला फेर लें, लिखित जप कर लें, मौन व्रत रख लें, धूनि रमाएं, ध्यान लगाने के लिए गुफा-कन्दरा में बैठे, निर्जल निराहार करें, कुछ भी नहीं होने का। यह बिल्कुल स्पष्ट समझ में आना चाहिए।

हम सब तो आजकल ध्यान शब्द से बहुत प्रभावित होते हैं। ध्यान से ही आत्मज्ञान होता है सुनकर दो चार प्राणायाम की विधियां सीख लेते हैं और आसन जमाने लगते हैं। भगवान कहते हैं इन सबसे कुछ नहीं होगा। किसी भी कर्म प्रधान विधि से मुझे पाने की बात सोचना निरा अज्ञान है।

शंकराचार्य जी जब कहते हैं कि 'कर्म से ईश्वर प्राप्ति नहीं होती' तो उनका तात्पर्य यही है कि ऐसा कभी न सोचे कि अमुक क्रिया करने से मुझे भगवान मिल जाएंगे। कभी-कभी ऐसे वक्तव्यों से शंका होने लगती है कि भगवान कृष्ण तो कर्म पर इतना जोर देते हैं और शंकाराचार्य जी कहते हैं कि कर्म मुक्ति नहीं दिला सकता। यह कैसे? यहां स्पष्ट समझना आवश्यक है कि शंकाराचार्य जी जब कर्म शब्द का व्यवहार करते हैं तो इसका अर्थ

कर्म योग नहीं है। इधर भगवान हर स्थान पर कर्म योग की बात करते हैं। कर्म तो हर क्रिया को कहा जा सकता है लेकिन जो कार्य निष्काम भाव से, समत्व धारण करते हुए परमात्मा की प्राप्ति के लिए किया जाता है वही कर्मयोग है। इससे सीधे परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती पर यह पहला और सबसे महत्वपूर्ण सोपान है। जैसे हम कहें कि गेहूं उगा लेने से पेट नहीं भर जाता। निस्संदेह पेट तो रोटी खाने से भरेगा लेकिन उसके लिए गेहूं उपजाना सबसे ज्यादा जरूरी है।

परमात्मप्राप्ति के लिए पहले उसे पहचानना जरूरी है। अपनी पहचान कराते हुए भगवान कहते हैं –

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ।।१२।।

जो तेज सूर्य में स्थित हुआ सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता है, जो तेज चन्द्रमा में स्थित है और जो तेज अग्नि में स्थित है उसको तू मेरा ही तेज मान।

भगवान कोई भी बात अवैज्ञानिक ढंग से नहीं करते। साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति सोच सकता है कि सूर्य का प्रकाश और चन्द्रमा का प्रकाश एक कैसे हो सकता है, एक तो प्रचण्ड गर्मी देता है दूसरा शीतलता। किन्तु वैज्ञानिक कहेगा– प्रकाश तो एक ही है चाहे वह सूर्य का हो या चन्द्रमा का या अग्नि का। कुछ वर्ष पहले तो प्रकाश को तरंग माना जाता था और प्रकाश की भिन्नता का कारण उनकी वेवलेंथ की भिन्नता बताया जाता था। अब वैज्ञानिक प्रकाश के कणों की बात करने लगे हैं जिन्हें फोटोन कहते हैं और प्रकाश की भिन्नता का कारण फोटोन का घनत्व बताते हैं। यहां भगवान भी ऐसी ही बात कह रहे हैं। वे कहते हैं कि प्रकाश चाहे सूर्य का हो या चन्द्रमा का या अग्नि का, सब तत्वतः एक ही है। सब मेरा ही तेज है। जैसे बिजली कहे कि चाहे रेडियो की आवाज हो, पंखे की हवा अथवा बल्ब की रोशनी, सब मेरा ही तेज है। इन सब में कारण रूप से, शक्ति रूप से मैं ही कार्य कर रहा हूं।

इस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि में अपना तेज बताने के बाद भगवान बड़े ही सुनियोजित ढंग से स्पष्ट कर देंगे कि सभी पदार्थों की सत्ता उन्हीं से है।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ।।१३।।

मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके सब प्राणियों को अपने तेज से धारण करता हूं और रस स्वरूप चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण औषधियों अर्थात् वनस्पतियों को पुष्ट करता हूं।

यह तो हम सभी जानते हैं कि पृथ्वी पर जितने जीव-जन्तु हैं, उनके जीवन का मुख्य स्रोत सूर्य से मिलने वाली ऊर्जा है। हम विद्युत ऊर्जा को ताप ऊर्जा, ताप ऊर्जा को प्रकाश ऊर्जा आदि में बदलते रहते हैं लेकिन प्रतिदिन नवीन ऊर्जा हमें सूर्य से ही मिलती है जिसके कारण फल, फूल, पौधे तथा प्राणी का जीवन सम्भव हो सका है। अब तो बहुत प्रकार की केमिकल खाद काम मे ली जाने लगी हैं फिर भी वनस्पति के उत्पादन में सूर्य के प्रकाश की भूमिका कम नहीं हुई है। सूर्य के प्रकाश में फोटोसिंथेसिस की क्रिया के द्वारा ही पेड़ पौधे भोजन बनाते हैं। सूर्य का प्रकाश पृथ्वी पर न पड़े तो कितनी ही खाद डाल लें, कुछ भी नहीं उगेगा। अतः हम कह सकते हैं कि सूर्य की शक्ति ही पृथ्वी में प्रवेश कर उसकी उपजाऊ शक्ति बनती है।

इसके बाद भूमिका आती है चन्द्रमा के प्रकाश की। पश्चिम का विज्ञान तो अब इस विषय पर अनुसंधान कर इस बात को समझ रहा है पर हम सदा से यह मानते आए हैं कि चन्द्रमा से अमृत बरसता है। हमारे यहां तो फसल की बुआई-कटाई आदि पचांग देख कर ही हुआ करती थी। वैज्ञनिकों ने प्रयोगों द्वारा अब समझा है कि पूर्णिमा के दिन काटा हुआ अन्न भी अधिक पौष्टिक होता है। फसल के पौधे भी जब नर्सरी में उगाए जाते हैं तो दिन के समय धूप से बचाने के लिए ढंकते हैं पर रात को अवश्य खोल देते हैं ताकि चन्द्रमा का प्रकाश पड़े। इस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश

अन्न, फल, फूल, औषधि, वनस्पति के रूप में परिणत होता है। सूर्य और चन्द्र नारायण अन्न नारायण बन गए। फिर वही अन्न नारायण अग्नि नारायण के सान्निध्य में आकर भोजन नारायण बना।

इसके बाद क्या होता है बताते हुए भगवान कहते हैं-

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।।१४।।

मैं सभी प्राणियों के शरीर में स्थिर हुआ वैश्वानर अग्नि होकर प्राण और अपान से युक्त हुआ चार प्रकार के अन्न को पचाता हूं।

भगवान ने पहले ही बता दिया था कि प्राणियों के शरीर को चेतन करने वाले जीवन तत्व वे ही हैं। उन्हीं के कारण जब आंख, कान, नाक देख-सुन-सूंघ सकते है, तो निश्चित रूप से शरीर की अन्य भौतिक क्रियाएं भी करने वाले भी वे ही हैं। इसी बात को भगवान इन शब्दों में व्यक्त करते हैं कि मैं वैश्वानर हूं।

हम सभी जानते हैं कि हममें जीवन तत्व ताप के रूप में प्रकट होता है। मरने पर शरीर ठंडा हो जाता है। भोजन के पचने और रक्त में मिलने तक नाना प्रकार की रासायनिक क्रियाएं होती है जिनके कारण ताप उत्पन्न होता है। यही वैश्वानर है जिसके बिना जीवन सम्भव नहीं। हमारे शरीर में विभिन्न प्रकार की भौतिक क्रियाएं होती हैं, जैसे पाचन, विसर्जन, रक्त संचारण इत्यादि। हमारे शास्त्रों में इन्हें पांच भागों में विभक्त किया गया है- प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। प्रस्तुत श्लोक में प्राण और अपान का ही उल्लेख है। प्रसंगवश इनका ही नाम लिया गया है, वैसे ये पांचों क्रियाओं के प्रतीक हैं। प्राण का अर्थ है ग्रहण करने की क्रियाएं और अपान का अर्थ है विसर्जन की क्रियाएं। हम तो फिर भी सो जाते हैं लेकिन हमारे शरीर के अन्दर का यह वैश्वानर दिन रात ये क्रियाएं करता रहता है जिससे कि अन्न का पाचन सम्भव होता है।

यहां चार प्रकार के अन्न बताए गए हैं, ये हैं-भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और

चोष्य अर्थात् चबा कर, निगल कर, चाट कर और चूस कर खाया गया पदार्थ। इन चारों के अन्तर्गत सभी प्रकार के सामिष-निरामिष भोजन आ जाते हैं। इस प्रकार हमने देखा कि सूर्य, चन्द्र और अग्नि नारायण से जो निर्मित हुआ वह भोजन नारायण बना। भोजन नारायण को वैश्वानर नारायण ने पचाया तब यह भौतिक शरीर बना। जैसे स्वर्ण से निर्मित कोई भी वस्तु स्वर्ण ही होगी उसी प्रकार नारायण से निर्मित कोई भी वस्तु नारायण ही होगी। अतः जीव का चेतन तत्व ही नारायण नहीं, उसका भौतिक तत्व भी नारायण ही है। यह बात सभी चर-अचर प्राणियों के साथ लागू होती है। अतः सृष्टि में जो कुछ भी देख रहे हैं वे सब नारायण के ही विभिन्न रूप हैं।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ।।१५।।

मैं ही सब प्राणियों के हृदय में विराजमान हूं। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और उनका विस्मरण भी होता है। सब वेदों द्वारा मैं ही जानने के योग्य हूं तथा वेदान्त का कर्ता और वेदों को जानने वाला भी मैं ही हूं।

भगवान जब कहते हैं कि सब प्राणियों के हृदय में विराजता हूं तो इस समय हृदय का अर्थ रक्त संचारण करने वाला उपकरण नहीं। काव्य में हृदय का अर्थ मन ही होता है जहां से प्रेम, दया, करुणा, कृपा और बंधुत्व प्रकट होता है, जहां से भक्ति उमड़ती है। अभी-अभी हमने देखा कि हमारे शरीर की एक-एक कोशिका में परमात्मा तत्व रूप से मौजूद हैं किन्तु जब हम कहते हैं कि भगवान् हृदय में विराजते हैं तो तात्पर्य यह होता है कि उनकी उपस्थिति की पहचान अपने हृदय में झांकने पर ही संभव है। हृदय से जो भाव प्रकट हों उसमें ईश्वर को पहचानें। यह पहचान करवाने के लिए ही भगवान कहते हैं कि सारी, स्मृतियां, सारा ज्ञान तथा स्मृति का अभाव भी मेरे ही कारण है।

हमें लगेगा कि भगवान ने स्मृति के अभाव यानी भुलक्कड़पने की बात को अपनी विभूति क्यों बताया। सच तो यह है कि हमें भगवान ने जितनी

शक्तियां प्रदान की हैं उनमें भूलने की शक्ति तो बहुत ही बड़ी नियामत है। यदि हमें पुरानी सारी बातें याद रहने लग जाएं तो गजब ही हो जाएगा। जिसे हम सबसे प्यारे मान रहे हैं वह हो सकता है बीस तीस जन्म पहले हमारे बच्चे को लेकर भागा हो, जो आज हमारा गुरु है वही कभी पत्नी रहा हो। ऐसे में कैसे जी पाएंगे हम!

इस प्रकार हमारी विभिन्न क्षमताओं के पीछे भी स्वयं की ही शक्ति बताने के बाद भगवान कहते हैं कि मैं ही वेदों का कर्ता, मैं ही उन्हें जानने वाला और उनके द्वारा जाना गया तत्व भी मैं ही हूं। तात्पर्य यह है कि हमें विभिन्न लोग विभिन्न प्रकार के कार्य करते जान पड़ते हैं किन्तु सच तो यह है कि वही माली बन कर फूल उगाता है और वही फूल बन कर उगता भी है अन्त में वही उस फूल को तोड़ता और वही ईश्वर मूर्ति के रूप में मन्दिर में प्रतिष्ठित हो उस फूल को धारण भी करता है। जड़ माने जाने वाले फल फूल वनस्पतियां भी वही है और चेतन माने जाने वाले पशु पक्षी और मनुष्य भी वही है। हम भी जानते हैं कि पृथ्वी में मिलने वाले रसायन आदि भी इन्हीं सब का परिवर्तित रूप है इस प्रकार कुल मिला कर बात यह है कि सृष्टि का कण-कण परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है।

अपनी इन विभिन्न भूमिकाओं का विभाजन और स्पष्टीकरण भगवान अगले तीन श्लोकों में करते हुए भगवान कहते हैं-

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।१६।।

इस लोक में दो पुरुष हैं, क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष। सभी भूत क्षर हैं तथा कूटस्थ को अक्षर कहते हैं।

स्वर्णकार ने स्वर्णपिंड से एक टुकड़ा तोड़ा। उसे पीटा, उसका तार खींचा, तार के विभिन्न आकार के टुकड़े किए, उन्हें मोड़ा और फिर आपस में जोड़ा जिससे सोने की चेन बनी। यह चेन स्वर्ण ही है क्योंकि इसका प्रारंभिक पदार्थ स्वर्ण था। स्वर्ण के पिंड से चेन बनने की प्रक्रिया में हर समय वह

स्वर्ण ही रहा। यही संबंध परमात्मा और जगत का है। सबकी उत्पत्ति उसी से हुई है अतः समस्त पदार्थ तत्वतः परमात्मा ही है पर सबके साथ परमात्मा की भूमिका अलग-अलग है।

पदार्थों में तो परमात्मा केवल सत्ता के रूप में विद्यमान हैं। केवल पदार्थ का तत्व परमात्मा है अतः हम उस पदार्थ को परमात्ममय कह सकते हैं पर उनमें परमात्मा की अभिव्यक्ति पूर्ण रूप से प्रकट नहीं हुई है। दूसरी और चैतन्य प्राणियों को देखें। उनका भी शरीर जड़ तत्व से बना है। अतः सत्ता के रूप में तो परमात्मा ही है किन्तु इसके साथ ही इन प्राणियों में चेतना दिखती है। चैतन्य तत्व के रूप में परमात्मा की पहचान और भी स्पष्टता से होती है। हम देखते हैं कि शरीर बदला यानी छोटे से बड़ा हुआ, मन बुद्धि में भी परिवर्तन आया किन्तु पुरुष वही है। इस पुरुष को कूटस्थ कहा जाता है। कूटस्थ लोहे का वह टुकड़ा है जिस पर गर्म लोहा रख कर उसे पीट-पीट कर आकार दिया जाता है। गर्म लोहे का रूप बदल जाता है पर कूटस्थ ऐसा ही रहता है अतः हमारे अव्यय तत्व को शास्त्र में कूटस्थ की संज्ञा दी गई है। भगवान ने अपने दो नाम निर्धारित किए हैं- क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष। पदार्थों में परमात्मा का केवल सत् स्वरूप है यह स्वरूप बदलता जान पड़ता है अतः इसे क्षर पुरुष का नाम दिया और प्राणियों में सत् के साथ-साथ चित् स्वरूप भी है। यह चित् स्वरूप परमात्मा सत् स्वरूप परमात्मा की अपेक्षा अपिरवर्तनशील जान पड़ता है। अतः इसे अक्षर पुरुष कह दिया गया। स्मरण रखें कि क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष, दोनों शब्द सापेक्षिक हैं।

क्या परमात्मा के स्वरूप का निरूपण पूरा हो गया? नही। क्षर अक्षर से परे और भी कुछ है। भगवान कहते हैं:-

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।१७।।

परन्तु उन दोनों से उत्तम पुरुष तो अन्य ही है जो तीनों लोकों में व्याप्त होकर सबको धारण करता है जिसे अविनाशी ईश्वर और परमात्मा कहा गया है।

परमात्मा क्षर और अक्षर पुरुष की सीमा में आबद्ध नहीं। वह तो अनन्त हैं। यदि हम कहें कि वह केवल अक्षर और क्षर पुरुष जितना ही है तो यह बात उसकी अनन्तता का विरोध करेगी। अनन्त से कुछ भी निकलें, अनन्त भी निकाल दें तो तो भी शेष शून्य नहीं बल्कि अनन्त ही होता है, यह गणित का सिद्धान्त है। अनन्त परमात्मा क्षर पुरुष या अक्षर पुरुष के कितने ही रूप धारण कर ले वह फिर भी पूर्ण और अनन्त ही रहता है। क्षर अक्षर में बंट कर विभक्त नहीं हो जाता।

इसे यूं समझें। एक व्यक्ति अपने पुत्रों का पिता है, अपने आफिस का कर्मचारी है। किन्तु ये दोनों भूमिकाएं उसका पूर्ण परिचय नहीं दे सकते। वह इन दोनों भूमिकाओं से भिन्न कुछ और भी है, वह एक व्यक्ति है। मान लें कि उसके पुत्र मर गए, उसकी नौकरी छूट गई तो वह न पिता रहा न कर्मचारी। लेकिन फिर भी वह उतना ही है जितना पहले था। उसमें और भी नाना प्रकार के रूप धारण करने की क्षमता है। पिता या कर्मचारी न रहने पर वह शून्य नहीं हो जाता। विभिन्न रूप जब धारण करता है तो उसकी सत्ता विभक्त नहीं हो जाती।

क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष तो परमात्मा की दो विभिन्न भूमिकाएं मात्र है। क्षर सत् स्वरूप है अक्षर सत्-चित् स्वरूप किन्तु अखिल लोक नायक परमात्मा तो सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है। हम प्रणियों की सत्ता तो है, ज्ञान भी है फिर भी आनन्द का अभाव है। जो महात्मा जन अखण्ड आनन्द का स्त्रोत भी अपने अन्दर ही पा लेते हैं वे ब्रह्म रूप हो जाते हैं, ऐसा कहा जाता है। इसका अर्थ यही है कि ब्रह्म अपनी सम्पूर्णता के साथ उनमें अभिव्यक्ति प्राप्त कर लेता है।

भगवान कहते हैं कि यह अविनाशी ईश्वर और परमात्मा तीनों लोकों का पोषण और धारण करता है। तीनों लोकों का अर्थ है जाग्रत लोक, स्वप्न लोक तथा सुषुप्ति लोक। सुषुप्ति में ज्ञान नहीं होता है यानी परमात्मा चित् रूप से नहीं आनन्द रूप से उस अवस्था का धारण पोषण करता है।

उपरोक्त बातों को संत कबीर दास जी ने अपने पद में अत्यन्त सरल सुन्दर और स्पष्ट शब्दों में यह कह कर व्यक्त किया है:-

घट घट में पंछी बोलता है।
सबमें सब पर आप विराजे
जड़ चेतन में डोलता है।

परमात्मा जड़ में भी और चेतन में भी। वह सबमें हैं। किन्तु सबमें कहने से बात पूरी नहीं हो जाती, वह 'सब पर' भी है। 'सब में' के साथ 'सब पर' भी होना उसके जगदीश्वर स्वरूप को प्रकट करता है।

परमात्मा जब जड़ के रूप में हैं तो क्षर पुरुष, जब चेतन के रूप में है तो अक्षर पुरुष कहलाता है। जब इन उपाधियों से परे है तब क्या कहेंगे? भगवान कहते हैं:-

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।१८।।

क्योंकि मैं नाशवान क्षर (प्रकृति) से तो सर्वथा अतीत हूं और अक्षर (पुरुष) से भी उत्तम हूं। अतः लोक में और वेद में भी पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूं।

परमात्मा केवल क्षर पुरुष या अक्षर पुरुष नहीं बल्कि उनसे परे, उत्तम है अतः उसे पुरुषोत्तम कहने से अर्थ सुस्पष्ट हो जाता है। अक्षर पुरुष तो क्षर की अपेक्षा ही अविकारी अव्यय कहा जा सकता है, वास्तव में तो वह पुरुषोत्तम की ही अभिव्यक्ति है जो कि हर परिस्थिति, देश आदि की सीमा से सर्वथा मुक्त पूर्णतः निरपेक्ष है। विज्ञान का ही सिद्धान्त है कि किसी भी विकार के होने के लिए एक अविकारी तत्व अवश्य चाहिए। यदि दो रेल एक साथ समान गति से चल रही हो तो उसमें बैठे यात्रियों को लगेगा कि वह चल नहीं रही। किंतु बाहर स्थिर खड़ा व्यक्ति रेल की गति को सही सही समझ सकेगा। हम देख रहे हैं कि यह संसार प्रति क्षण चल रहा है, बदल रहा है। ये सारे परिवर्तन तभी संभव है जबकि इनके पीछे इन्हें धारण करने वाली एक अपरिवर्तनशील सत्ता हो। जैसे कि सिनेमा के चलते दृश्यों को धारण करने वाला पर्दा होता है। दृश्य बदलते हैं, पर्दा वैसा ही रहता है। यदि वर्षा

के दृश्य को धारण करते समय पर्दा स्वयं भीग जाय, आंधी के दृश्य में फट जाए तो वह कभी भी इन दृश्यों को धारण नहीं कर पाएगा।

अपने पुरुषोत्तम स्वरूप के निरूपण का उपसंहार करते हुए भगवान कहते हैं:-

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ।।१९।।

जो असंमूढ़ अर्थात् ज्ञानी पुरुष मुझे पुरुषोत्तम जानता है वह सर्वज्ञ सब प्रकार से निरन्तर मुझे ही भजता है।

भगवान् ने यहां ज्ञानी पुरुष के लिए असंमूढ़ शब्द का व्यवहार किया है। वास्तव में तत्व ज्ञान के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा मोह ही है। मोह के कारण जो वस्तु व्यक्ति परिस्थिति जैसी है उसे हम वैसी देख नहीं पाते। मोह के कारण अपना दुष्ट बालक हमें नादान और भोला लगता है। मोह के कारण ही हमें पुत्र के विवाह से बड़ी आनन्द की बात दूसरी कल्पना में ही नहीं आती फिर हम परमानन्द को प्राप्त करेंगे ही कैसे? हम सभी संसारी माया मोह में पड़े रात दिन थपेड़े खाते हैं। हंसते रोते कलपते बिलखते कराहते संसार को, अपने शरीर को, अपनी बुद्धि तक को कोसते हैं, लेकिन कैसा भी दारुण दुख क्यों न हो इन्हें छोड़ने को तैयार नहीं होते। कभी-कभी तो यह अविश्वसनीय सा लगता है कि इतना दुख भोगने पर भी संसार पूरा तो क्या रंच मात्र भी छूटता नहीं। क्यों होता है ऐसा? इस लिए कि हम संसार छोड़ना चाहें तो हमारे पास पकड़ने के लिए दूसरा कुछ नहीं है। नीचे गहरी खाई हो और हम एक पतली सी डाल से लटके हर पल मृत्यु का इंतजार कर रहे हों, घबरा रहे हों, पर जब तक दूसरी कोई वस्तु हाथ में नहीं आ जाती हम उस पर से हाथ हटा तो नहीं लेंगे।

संसार भले ही दुख का सागर है। कभी-कभी क्षणिक सुख की चमक तो दिखाई पड़ती ही है और इसी डगमगाती डाल को पकड़े घबड़ाते हुए टिके रहते हैं और सोचते रहते हैं कि यह डाल ही मजबूत हो जाए हमें कहीं

जाना नहीं पड़े। हम तो गंदे पानी के गड्ढे में खड़े व्यक्ति की भांति हैं जो बचाओ, बचाओ पुकारता है, चीखता है, चिल्लाता है, लेकिन कोई महात्मा हमें कहता है कि मेरा हाथ पकड़कर ताकत लगाओ तुम, ऊपर आ जाओगे, तो हम कहते हैं- नहीं! नहीं! ऊपर आने से कैसे काम चलेगा। फिर इस गड्ढे का क्या होगा? महात्माजी आप तो कुछ ऐसा कीजिए कि गड्ढे के सारे मच्छर और कीटाणु मर जाएं और मैं आराम से इसी में लेटा रहूं।

अपने सारे माया मोह के जंजालों के साथ रोज गीता का पाठ करने या नवरात्रि में रामायण का पाठ करने से कुछ नहीं होगा। प्रवचन सुनने या गीता के श्लोकों की व्याख्या लिखने पढ़ने से भी कोई लाभ नहीं होगा। हमें साधना करनी होगी मोह से निवृत्ति पाने के लिए। गीता में अनेक अपाय बताए गए हैं जिन्हें व्यवहार में उतारना होगा। जब मोह का चश्मा उतर जाएगा तो फिर कुछ करना बाकी नहीं रह जाएगा। वह स्वयं प्रकाश्य पुरुषोत्तम अपनी संपूर्ण दीप्ति के साथ स्वयं भासित होगा। तब हम कण-कण में बसने और उनसे परे रहकर उन्हें नियंत्रित भी करने वाले पुरुषोत्तम को देख पाएंगे। सभी भूतों में, सभी व्यक्तियों में हमें उसकी छवि दिखाई देगी।

पुरुषोत्तम स्वरूप का ज्ञान ही ज्ञान की पराकाष्ठा है जिसके बाद कुछ और जानना बाकी नहीं रह जाता। जब हम पुरुषोत्तम को जान लेते हैं तो सहज ही उससे हमारा योग हो जाता है अतः इस अध्याय को पुरुषोत्तम योग कहा गया है।

भगवान कहते हैं कि पुरुषोत्तम को जानने वाला सब प्रकार से मुझे ही भजता है। यह कैसे? हम तो पूजा करते हुए भजना जानते हैं, माला फेरते हुए भजना जानते हैं, भजन गाते हुए भजना जानते हैं पर सब प्रकार से भजना कैसे हो सकता है। वास्तव में ज्ञान की भाषा में जिसे जानना कहते हैं भक्ति यानी प्रेम की भाषा में उसे भजना कहते हैं। अपने प्रिय प्रभु की प्रसन्नता के लिए हम जो कुछ करते हैं वह उनका भजन है। जब सब प्राणियों में पुरुषोत्तम के दर्शन होंगे तब हम किसी के लिए भी, कुछ भी क्यों न करते हों यही भाव रहेगा कि मैं पुरुषोत्तम के लिए कर रहा हूं। अतः पुत्र को स्कूल भेजना भी भजन ही होगा दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता। बाहरी दृष्टि से क्रिया वही रहते हुए आन्तरिक स्थिति में क्या परिवर्तन आता है यह तो अनुभव से ही

समझा जा सकता है। अंत में भगवान कहते हैं:-

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ।।२०।।

हे निष्पाप अर्जुन! ऐसे यह परम गोपनीय ज्ञान मेरे द्वारा कहा गया है। इसको तत्व से जानकर मनुष्य ज्ञानवान और कृत-कृत्य हो जाता है।

भगवान ने क्षर अक्षर पुरुष तथा पुरुषोत्तम के ज्ञान को गुह्यतम अर्थात् परम गोपनीय कहा है। गोपनीय बात तो वह होती है जिसे हम खुले में नहीं कहते। किंतु यहां तो भगवान ने बिल्कुल खुली युद्ध भूमि में इस ज्ञान का निरूपण किया है और गीता में हम हर स्थान पर देखते हैं कि भगवान जो कुछ कह रहे हैं वह सबके लिए कह रहे हैं यह उनकी भाषा से स्पष्ट है। वे 'त्वम्' के स्थान पर 'य:' सर्वनाम का व्यवहार करते हैं जिसका अर्थ है 'कोई भी', गीता न केवल अर्जुन के लिए कही गई है, न केवल क्षत्रिय वर्ग के लिए है, न केवल पुरुषों के लिए। यह तो सबके लिए है। रहस्य जब सबके लिए उद्घाटित कर ही दिया गया तो फिर उसे रहस्य कहा ही क्यों जाए?

रहस्य या परम गोपनीय शब्द से तात्पर्य यह है कि सुन लेने मात्र से भी कोई इसे जानकर ज्ञानी नहीं बन सकता। इसके पूर्ण ज्ञान के लिए तो साधना करनी पड़ती है।

यहां एक बात और ध्यान करने की है। अर्जुन को भगवान ने इस परम गोपनीय ज्ञान का अधिकारी समझा तभी यह ज्ञान दिया। क्या था अर्जुन में जिसने उसे इस परम ज्ञान का अधिकारी बनाया? इसका उत्तर भगवान के द्वारा इस श्लोक में अर्जुन के लिए उपयोग किए गए संबोधन में है। वे अर्जुन के लिए अनघ अर्थात् निष्पाप शब्द का व्यवहार करते हैं। जिसके हृदय में पाप का कलुष न हो, जिसकी बुद्धि निर्मल हो वही इस ज्ञान को पाकर कृतकृत्य हो सकता है जैसा कि भगवान ने इस श्लोक में दूसरी पंक्ति में कहा है। जो अभिमानी, माया-विलास से मोहित होते हैं, जो केवल तर्क द्वारा

भगवान को असिद्ध करने या उन्हें परम पक्षपाती, निर्दयी या अविवेकी सिद्ध करने का ही प्रयत्न करते रहते हैं उन्हें कुछ भी सिखाने से कोई लाभ नहीं। ऐसे व्यक्तियों को दूसरा तो कोई क्या ज्ञान देगा, स्वयं परमात्मा व्यक्त रूप से प्रकट जाएं तब भी वह नहीं मानेगा। दुर्योधन की राज सभा में भगवान ने अपना विराट् रूप दिखाया था फिर भी उस पापी के विचारों में रंच मात्र भी अन्तर नहीं आया। अर्जुन उसी विराट् रूप को देखकर कृतकृत्य हो गया था।

सारांश यह है कि जगत में सब ओर, सब पर, सब में एक ही परमात्मा है, उससे ही इस संसार की उत्पत्ति हुई है, पर हम संग अर्थात् मोह के कारण इसके साथ गलत प्रकार का संबंध रखे हुए हैं। हमें अपने व्यक्तित्व को संयमित, संतुलित कर संसार रूपी वृक्ष के साथ असंगता के शस्त्र से सम्बंध विच्छेद कर परमात्मा के स्वरूप को जानने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए सर्व प्रथम तो भगवान की शरण ग्रहण करें तभी हम साधना में सफल हो पाएंगे। साधना के मार्ग में सफलता मिले, ईश्वर का ज्ञान पाकर जीवन में कृतकृत्यता आए इसके लिए हृदय को पाप मुक्त बनाना भी एक आवश्यक शर्त है।

इस प्रकार श्री कृष्ण अर्जुन संवाद में पुरुषोत्तम योग नामक पन्द्रहवां अध्याय पूर्ण हुआ।

ॐ तत् सत्